I-20. Satprarupana

Times have changed, or the world has changed?

The break-though to bring the ancient Prakrit text of Jeevatthan in a modern form was first developed in an article by Heera Lal Jain Shastri (Kakka) (Jain 1938). This article published in Jain Siddhant Bhaskar (Vol. 4, 216-224, 1938) is reprinted below. These ideas based on a decade of work were presented in the Itarsi convention of Jain Vidvat Parishad in 1934. The final version of the article was completed in April 1936. Events leading to the publication of this material in the book form as Satprarupana (Chapter A) in November 1939 are developed in Volume II. Note that when Kakka joined this publication effort in December 1938, he had already organized virtually all the steps that make up the Chapters A through D.

The strategy outlined in this scholarly article sets the intellectual and conceptual foundation for virtually all the modern work on the interpretation of the ancient Prakrit works of this genera. It brings out coherence of thought by tracing the terms and concepts scattered in the derived literature. Linguistic and conceptual continuity in the context of the #A1-23 matrix provides a criteria for ascertaining the meaning of the ancient terms. Except for the two steps the sequence of the 175 steps in this article are reproduced later in Chapter A. These 175 steps from sarvarthsiddhi of Pujypad (ca. 400 AD) are apparently the Sankrit translation Satprarupana of Jeevatthan in Prakrit. In this work not only some of the lines are missing but the meaning and intention of key Prakrit words is lost for ever (I-9, II-10, II-11).

As outlined in the appended article such concerns are key to restoring the thought process. It requires paying careful attention to the meaning and intention of written words which

can be done most effectively by pursuing the continuity of thought.

*

A few words about the tradition and content of hand written manuscripts (*pandulipi*) may be useful to set a broader context. Importance of writing down the knowledge transmitted through oral tradition was clearly recognized by Dharsen (Chapter II-18). As a result Pushpdant and Bhutbali completed writing of Jeevatthan in about 50 AD. In the process, apparently they also adopted the content of the poetic and fluid Gatha form (Chapter II-26) to the written medium. The step-wise matrix form in Jeevatthan, in which content is arranged, facilitates teaching and self-learning. As is apparent from many other Nay constructs, the stepwise matrix form was traditionally used for the interpretation and the reconstruction of the thought and reasoning from the gatha form that was used for transmission of the original thought. Clearly the step wise form facilitates learning and develops reasoning ability. This is the purpose of Nay methods.

Success of any learning method depends on retaining the integrity of the content. This may not be obvious to the learner but the responsibility of retaining the integrity lies with the teacher and commentator. Thus in subsequent works of the Jain tradition the ancient gathas are often retained intact, with a possible change in the changing linguistic style. This tradition is also apparent in the Davala commentary (Chapters II-19 and II-20). This is apparent even to this day in *vachanika* where the original is clearly delineated from the interpretations and opinions of the commentator.

Such precautions are significantly compromised in translations to other languages. As discussed in Chapter in II-11, such an unfortunate change occurred in the translation of *itthi* (in Prakrit) to *drashti* (in Sanskrit) by Pujyapad. These two words have very different meanings: itthi is perception based on sum-

total of the subjective and objective considerations of individuals; at least now Drashti is used in a much narrower sense for response to visual input to point of view. The key difference comes from the subjective considerations that are integral part of the fourteen *guansthan*. Subsequent works also suffer from such departures.

In spite of their differences the currently available hand written manuscripts (pandulipis) are the only source for the reconstruction of the thought from the past. My estimate is that the number of Jain pandulipis in the various holdings are somewhere between 100,000 to 1000,000. Less than 10% of these are catalogued. It is not clear how many of these are near-complete works.

Most of the pandulipis are copies of copies of copies with occasional commentaries. It is estimated that about 1000 works may be represented by these manuscripts. Less than 100 of these are probably the original works that trace their origins prior to the 12th century AD. The rest are commentaries with noticeable and significant fragments of the earlier works. This is a very crude estimate based on conversation with well over 50 scholars who deal with such matters. Clearly, one can say little if we do not know what is out there. The only thing that is certain is that there is material from the past in need of preservation. Its loss will be the loss of the link in the 5000 year old tradition.

Jain, Heera Lal (1938) "Bhagvan Pushpadant and Pujypad Swami." Jain Siddhant Bhaskar (March) p. 216-224.

Written April 1936/Published March 1938.

Jain Siddhant Bhaskar, March 1938, p. 216-224.

भगवान् पुष्पदन्त और पूज्यपाद स्वामी

[लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री]

वर्तमान में उपलब्ध होनेवाले श्रुतज्ञान के सर्वप्रथम लिपिबद्धकर्त्ता या उद्धारक भगवान् पुष्पदन्त और भगवान् भूतबलि हुए हैं। इनका समय भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग ६०० वर्ष बाद का है। भ० पुष्पदन्त ने सर्वप्रथम जिस रचना को लिपिबद्ध किया, वह सूत्रात्मक 'जीवट्ठाण' है। इसके ऊपर आचार्य वीरसेन ने 'धवला' नाम की टीका सात हजार श्लोकों प्रमाण बनायी। आज इस सिद्धान्तशास्त्र की 'धवल' इस नाम से प्रसिद्धि है। लोकप्रसिद्धिवश मैं इस लेख में 'जीवट्ठाण-सिद्धान्त' को 'धवल-सिद्धान्त' नाम से उल्लेख करूंगा।

भ० उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वप्रथम टीकाकार पूज्यपाद स्वामी माने जाते हैं, हालां कि इसके पूर्व में स्वामी समन्तभद्र तत्त्वार्थ सूत्र पर 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' के रचयिता प्रसिद्ध हैं। किन्तु आज के उपलब्ध जैन वाङ्मय में उसके अवतरण या उल्लेख न पाये जाने से ऐतिहासिकों को उस के अस्तित्व में सन्देह है। कुछ भी हो इस वक्त उस के बाबत मुझे कुछ नहीं कहना है, उसका निर्णय तो भविष्य में उपलब्ध होनेवाला जैन साहित्य ही करेगा। किन्तु यह तो निश्चित हो है कि तत्त्वार्थसूत्र पर जितनी भी दि० या श्वे० टीकायें उपलब्ध हैं, उन सब में 'सर्वार्थसिद्धि' ही सबसे प्राचीन मौलिक एवं प्रामाणिक मानी जाती है। पूज्यपाद का समय विक्रम की पांचवीं-छठीं शताब्दी माना जाता है और इस प्रकार से भगवान् पुष्पदन्त के लगभग पांच सौ वर्ष बाद उनका समय ठहरता है।

सर्वार्थसिद्धि की—प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र (सत्संख्या०) की टीका अपना खास महत्व रखती है। उसमें पायी जानेवाली विशेषता न राजवार्तिक में दृष्टिगोचर होती है और न श्लोक वार्तिक या तत्वार्थसूत्र की अन्य दि० श्वे० टीकाओं में हो। इस सूत्र की टीका का गम्भीर एवं गवेषणात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि पूज्यपाद स्वामी के समय तक भगवान् पुष्पदन्त के 'जीवट्ठाण' सिद्धान्त का पठन-पाठन बहुलता के साथ प्रचलित था, क्योंकि इस (सत्संख्या०) सूत्र की समग्र टीका में धवल-सिद्धान्त के मूलसूत्रों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

मैं यहाँ पर केवल सत्प्ररूपणा के कुछ उद्धरण देकर उक्त बात को पुष्ट करूंगा—

धवल सिद्धान्त— सत्प्ररूपणा	सूत्र	सर्वार्थसिद्धि प्र० अ० सू० ८
१—अत्थि मिच्छाइट्ठी	सूत्र ७	मिथ्यादृष्टिः
२—सासणसम्माइट्ठी	,, ८	सासादनसम्यग्दृष्टिः
३—सम्मामिच्छाइट्ठी	,, ९	सम्यग्मिथ्यादृष्टिः
४—असंजदसम्माइट्ठी	,, १०	असंयतसम्यग्दृष्टिः
५—संजदासंजदा	,, ११	संयतासंयतः
६—पमत्तसंजदा	,, १२	प्रमत्तसंयतः
७—अप्पमत्तसंजदा	,, १३	अप्रमत्तसंयतः
८—अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा	,, १४	अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः
९—अणियट्टिबादरसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा	,, १५	अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः
१०—सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा	,, १६	सूक्ष्मसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः
११—उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था	,, १७	उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थः
१२—खीणकसायवीयरायछदुमत्था	,, १८	क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः
१३—सजोगकेवली	,, १९	सयोगकेवली
१४—अजोगकेवली	,, २०	अयोगकेवली चेति
१५—संतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो-ओघेण आदेसेण य	,, ८	सत्प्ररूपणा द्विधा सामान्येन विशेषेण च
१६—आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि	,, २२	विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथ्वीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति
णेरइया चदुट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति	,, २३	

१७—तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजद त्ति	सूत्र २४	तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति
१८—मणुस्सा चोद्दसगुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छा०.......................... जाव अजोगकेवलि त्ति	,, २५	मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सन्ति
१९—देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छा० सास० सम्मामि० असं०	,, २६	देवगतौ नारकवत्
२०—एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिं० एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,, ३४	इन्द्रियानुवादेन—एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
२१—पंचिंदिया० अजोगकेवलि त्ति	,, ३५	पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति
२२—कायाणुवादेण०....................	,, ४०	
पुढविकाइया आउका० तेउका० वाउका० वणप्फइका० एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,, ४१	कायानुवादेन पृथिवीकायिकादिषु वनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
२३—तसकाइया बीइंदियप्पहुदि जाव अजोगिकेवलि त्ति	,, ४३	त्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति
२४—जोगाणुवादेण०....................	,, ४५	
मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगकेवलि त्ति	,, ६२	योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति
२५ - वेदाणवादेण०....................	,, ९८	वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्यादिनिवृत्तिबादरान्तानि सन्ति ।
इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति	,, ९९	
णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव जाव अणियट्टि त्ति	,, १००	
२६—तेण परमवगदवेदा चेदि	,, १०१	अपगत वेदेषु अनिवृत्ति बादरादयो केवल्यन्तानि ।

२७—कसायाणुवादेण० सूत्र १०८

कोधकसाई माणकसाई माया कसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणि-यट्टि त्ति ,, १०९

कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्या-दृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरस्थानान्तानि सन्ति

२८—लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुहुमसांपराइय सुद्धि संजद त्ति ,, ११०

लोभकषाये तान्येव सूक्ष्म साम्परायस्थानाधिकानि

२९—अकसाई चउट्ठाणेसु अत्थि उव-संतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसाय वीय० सजोगकेवली अजोगकेवलि त्ति ,, १११

अकषायः उपशान्तकषायः क्षीणकषायः सयोगकेवली अयोगकेवली चेति

३०—णाणाणुवादेण अत्थि० ,, ११२

मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी एइंदियप्पहुडि जाव सासण सम्माइट्ठि त्ति ,, ११३

विभंगणाणं सण्णिमिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा ,, ११४

ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति

३१—सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे तिण्णि वि-णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि आभिणिबोहियणाणं मादिअण्णा-णेण मिस्सियं सुदणाणं सुदअ-ण्णाणेण मिस्सियं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं तिण्णि वि-णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा ,, ११६

३२—आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं असंजदसम्माइट्ठिप्प-हुडि जाव खीणकसाय वीदराग-छदुमत्थ त्ति ,, ११७

आभिनिबोधकश्रुतावधिज्ञानेषु असंयत-सम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति

३३—मणपज्जवणाणी पमत्तसंज-दप्पहुडि जाव खीणकसायवीद-राग-छदुमत्थ त्ति ,, ११८

मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः सन्ति

३४—केवलणाणी तिसु ठाणेसु सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि	,, ११९	केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च
३५—संजमाणुवादेण०	,, १२०	संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽ केवल्यन्ताः।
संजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति	,, १२१	
३६—सामाइयछेदोवट्ठाणसुद्धिसंजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति	,, १२२	सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः।
३७—परिहारसुद्धिसंजदा दोसु ठाणेसु पमत्तसंजदट्ठाणे अपमत्तसंजदट्ठाणे	,, १२३	परिहारविशुद्धिसंयता प्रमत्ताप्रमत्ताश्च
३८—सुहुमसंपरायसुद्धिसंजदा एक्कम्मि चेय सुहुमसंपराइयसुद्धिसंजदट्ठाणे	,, १२४	सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायस्थाने
३९—जहक्खादविहारसुद्धिसंजदा चदुसु ट्ठाणेसु उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था खीणकसायवी० सजोगकेवली अजोग केवलि त्ति	,, १२५	यथाख्यातविहारसुद्धिसंयताः—उपशांतकषायादयोऽयोगकेवल्यन्ताः
४०—संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदा-संजदट्ठाणे	,, १२६	संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने
४१—असंजदा एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति	,, १२७	असंयता आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु
४२—दंसणाणुवादेण०	,, १२८	दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोः मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति
चक्खुदंसणी चउरिंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्था त्ति	,, १२९	
अचक्खुदंसणी एइंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्थ त्ति	,, १३०	
४३—ओहिदंसणी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्थ त्ति	,, १३१	अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि

४४—केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि	,, १३२	केवलदर्शने सयोगकेवली अयोगकेवली च
४५—लेस्साणुवादेण०	,, १३३	लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकपोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानि सन्ति
किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति	,, १३४	
४६—तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अपमत्तसंजद त्ति	,, १३५	तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि अप्रमत्तस्थानान्तनि ।
४७—सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगकेवलि त्ति	,, १३६	शुक्ललेश्यायाँ मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि
४८—तेण परमलेस्सिया	,, १३७	अलेश्या अयोग-केवलिनः ।
४९—भवियाणुवादेण०	,, १३८	भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति
भवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति	,, १३९	
५०—अभवसिद्धिया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,, १४०	अभव्या आद्य एव स्थाने
५१—सम्मत्ताणुवादेण०	,, १४१	सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्यन्तानि सन्ति
सम्माइट्ठीखइयसम्माइट्ठीअसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगकेवलि त्ति	,, १४२	
५२—वेदगसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अपमत्तसंजद त्ति	,, १४३	क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अप्रमत्तान्तानि
५३—उवसमसम्माइट्ठीअसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव उवसंतकसायवीदरागछदुमत्था त्ति	,, १४४	औपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि उपशांतकषायान्तानि
५४—सम्मामिच्छाइट्ठी एक्कम्मि चेव सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे	,, १४५	

सासणसम्माइट्ठी एक्कम्मि चेव-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे	,, १४६	सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यङ्मिथ्यादृष्टि मिथ्यादृष्टिश्च स्वे स्वे स्थाने
मिच्छाइट्ठी एइंदियप्पहुडि जाव सण्णिमिच्छाइट्ठि त्ति	,, १४७	
५५—सण्णियाणुवादेण० सण्णीमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव	,, १७०	संज्ञानुवादेन संज्ञिषु द्वादशगुणस्थानानि क्षीणकषायन्तानि
खीणकसायवीयरागछदुमत्थ त्ति	,, १७१	
५६—असण्णीएइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिय त्ति	,, १७२	असंज्ञिषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्
५७—आहाराणुवादेण०	,, १७३	आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि
आहारा एइंदियप्पहुडि जाव सयोगकेवलि त्ति	,, १७४	
५८—अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइसमावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोग-केवली सिद्धा चेदि	,, १७५	अनाहारकेषु विग्रहगत्यापन्नेषु त्रीणि गुणस्थानानि-मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिश्च। समुद्घातगतः सयोगकेवली अयोगकेवली च

उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए यह कहने को मन चाहता है कि मानों भगवान् पुष्पदन्त के सिद्धान्त-सूत्रों का पूज्यपाद स्वामी ने संस्कृतानुवाद कर दिया हो। किन्तु ऐसा मान लेने पर भी पूज्यपाद स्वामी के असमान पाण्डित्य में कोई बट्टा नहीं आता, क्योंकि पूज्यपाद स्वामी के समय में संस्कृत भाषा का ही सर्वत्र प्राबल्य था। उसमें ही सर्व मतमतान्तरों के विद्वान अपने अपने धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक ग्रन्थों की रचना कर रहे थे और खास करके ब्राह्मणों का संस्कृत-भाषा-पाण्डित्य सर्वत्र विचर रहा था, इसलिए जैनाचार्यों को भी यह उचित प्रतीत हुआ कि जैन वाङ्मय सम्बन्धी साहित्य की रचना भी संस्कृत भाषा में ही की जाय जिससे हमारा साहित्य जैनेतर साहित्य के मुकाबिले में किसी प्रकार हीन न समझा जाय। इसके पूर्व तक सारा जैन साहित्य प्राकृत भाषामय था पर पांडित्याभिमानी-ब्राह्मणों ने अपने नाटकादि ग्रंथों में संस्कृत के मुकाबिले में प्राकृत भाषा का नीचा स्थान दिया अर्थात नीच पात्रों की भाषा प्राकृत रखी और सर्वसाधारण की दृष्टि में प्राकृत हल्की भाषा समझी जाने लगी तब जैनाचार्यों को भी संस्कृत भाषा अपनानी पड़ी।

पाठकगण यहां यह शंका उपस्थित कर सकते हैं, कि यह कैसे मान लिया जाय कि पूज्यपाद के सामने सिद्धांत-सूत्र रहे हैं और उन्होंने उनका संस्कृतानुवाद सर्वार्थसिद्धि में

दिया है। परन्तु इसका उत्तर हमें इसी के नं० ३१ से मिल जाता है जिसमें मिश्रगुणस्थान के मिश्रज्ञानों का वर्णन सिद्धान्तसूत्र में तो किया गया है पर सर्वार्थसिद्धि में उक्त बात बिलकुल ही नहीं दी गई है। कोई यह कह सकते हैं कि संभव है, पाठ छूट गया हो पर यथार्थ में पाठ नहीं छूटा है। किंतु जान बूझ कर यह विषय छोड़ा गया सा प्रतीत होता है। कारण कि पूज्यपाद स्वामी के हृदय में यह तर्क उठा कि सम्यक्तता या मिथ्यापना तो 'दर्शन' के साथ सम्बन्ध रखने वाली वस्तुयें हैं, यहां ज्ञान में उनका क्या सम्बन्ध? फिर भी उनके हृदय में यह प्रश्न खड़ा ही रहा कि मिश्रगुणस्थानवर्ती ज्ञानों को 'ज्ञान' कहा जाय या 'अज्ञान'? यदि ज्ञान मानें—तो उनकी गिनती सम्यग्ज्ञानरूप मति श्रुत ज्ञान की गुणस्थान-संख्या के साथ होना चाहिए और यदि 'अज्ञान' मानें तो उनकी गिनती कुमति कुश्रुत ज्ञान के गुणस्थानों के साथ की जानी चाहिए? पर वे तो उन्हें एकदम ही छोड़ गए हैं जो कि एक विचारणीय बात है। परन्तु धवलसिद्धांत के मूल सूत्रकार तो उसे बहुत ही स्पष्ट सूत्र-द्वारा (सूत्र नं० ११६) उस बात को प्रकट करते हैं कि इस मिश्रगुणस्थान में जब मिश्रभाव है, मिश्र सम्यक्त्व है, तो फिर उनके ही अनुरूप मिश्रज्ञान भी क्यों न मान लिया जाय। इसीलिये उन्होंने उसे तदनुसार ही सूत्र में निबद्ध किया है।

श्रुतसागर सूरि ने भी श्रुतसागरी टीका में इसी स्थान पर निम्न प्रकार से शंका उठाकर इसका समाधान करना चाहा है, पर वे भी इसका उचित समाधान नहीं कर सके हैं। क्योंकि जो समाधान किया है उसकी पुष्टि किसी सिद्धांतग्रंथ से नहीं होती, बल्कि विरोध ही आता है। वह अंश इस प्रकार है :—

"सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानं च केवलं न संभवति, तस्याज्ञानत्रयाधारत्वात्। उक्तं च—'मिस्सेणाणत्तयं मिस्सं अण्णाणत्तयेणेति।' तेन ज्ञानानुवादे मिश्रस्यानभिधानं, तस्याज्ञान-प्ररूपणायामेवाभिधानं ज्ञातव्यम्। ज्ञानस्य (?) यथावस्थितार्थविषयत्वाभावात्।"

यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि श्रुतसागरी टीका बिलकुल ही सर्वार्थसिद्धि का शब्दशः अनुकरण करती हुई लिखी गई है, जिसका अर्थ यह होता है कि श्रुतसागरसूरि के हृदय में भी यह शंका उठी कि पूज्यपाद स्वामी ने इस मिश्रगुणस्थान में ज्ञान या अज्ञान का निरूपण क्यों नहीं किया? उसका समाधान उन्होंने उक्त रूप में करना चाहा है, पर यह एक आश्चर्य की ही बात है कि स्वयं ही सिद्धांतसूत्र का उद्धरण देते हुए उन्होंने मिश्रगुणस्थान में मिश्रज्ञान कहने का साहस नहीं किया। क्योंकि उनके ध्यान में संभवतः यह बात सामने रही मालूम पड़ती है कि यदि हम इस गुणस्थान में मिश्रज्ञान मानेंगे तो लोग इसे पूज्यपाद

की त्रुटि समझेंगे या फिर हमारे ही कथन को अप्रमाण समझेंगे। इसलिए उन्होंने उस बात की ओर संकेत भी किया, सिद्धांतसूत्र का उद्धरण भी दिया और एक हलका सा समाधान भी कर दिया। जो कुछ भी हो पर इतना तो इस बात से पता चलता ही है कि श्रीपूज्यपाद स्वामी के सामने सर्वार्थसिद्धि रचते समय धवलसिद्धांत के मूलसूत्र अवश्य थे। इस बात का और भी प्रबल समर्थन आगे की संख्या, क्षेत्र आदि प्ररूपणाओं के देखने से बखूबी हो जाता है जिसका यह अर्थ होता है कि आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व इस सिद्धांतग्रंथ का पठन-पाठन बहुत जोरों से होता रहा है और होना ही चाहिये था—क्योंकि यही अमूल्यनिधि तो हमारे महर्षियों ने विरासत में सौंपी है।

Contents of Volume I

Representation and Quality of Perception

I-1. What Is Of Interest?

I-2. In Short, What Is Being About?

I-3. Critical Contemplation

I-4. Representation and Abstraction

I-5. Why Look Back?

I-6. An Ancient View of Being

I-7. Processing Reality

I-8. What Is In An Abstract?

I-9. What Is in a Word?

I-10. Defining Coordinates

I-11. What Is Sensibility?

I-12. Independence for Survival

I-13. Is It Sustainable?

I-14. Ascertaining Nature's Veracity

I-15. What Is in a Name?

I-16. Human Natures

I-17. Contradiction Violates Reality

I-18. Rationality of Self-Interest

I-19. Tools for Representation

I-20. Satprarupana